स्व. चौ. गुगनराम सिहाग व उनकी छोटी बहन स्व. श्रीमती गीना देवी के शुभाशीर्वाद से प्रकाशित

JOURNAL OF HUMANITIES, COMMERECE, SCIENCE, MANAGEMENT & LAW

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

AN INTERNATIONAL MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES
QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

Vol. 8, ISSUE-1 (JULY-SEPTEMBER 2018) ISSN : 2395-7115

प्रेरणा :
चौ. एम. सिहाग

प्रधान सम्पादक :
डॉ. रामफल दलाल

सम्पादक :
डॉ. नरेश सिहाग एडवोकेट

अतिथि सम्पादक :
डॉ. वसुन्धरा उपाध्याय
पिथौरागढ़ (उत्तराखण्ड)

सहयोगी सम्पादिका :
बीना खत्री
शोधार्थी, सोनीपत (हरियाणा)

सह सम्पादिका :
डॉ. रेखा सोनी
उप प्राचार्या, शिक्षा विभाग
टाटिया वि.वि. श्रीगंगानगर

सह सम्पादिका :
डॉ. सुशीला आर्या
चौ. बंसीलाल विश्वविद्यालय
भिवानी (हरियाणा)

सह सम्पादक :
समुद्र सिंह

प्रकाशक :
गुगनराम एजुकेशनल एण्ड सोशल वैलफेयर सोसायटी (रजि.)
202, पुराना हाऊसिंग बोर्ड, भिवानी–127021 (हरियाणा)

Scanned by CamScanner

क्र.	विषय	लेखक	पृष्ठ
1.	सम्पादकीय	बीना खत्री	6–7
2.	21वीं सदी में पंजाब में सृजित हिंदी उपन्यास	मोनिका घुला	8–9
3.	मेवाड़ के लोकगीतों में 1857 की क्रांति की गूँज : एक ऐतिहासिक अध्ययन	सम्पदा	10–12
4.	शिवमूर्ति की कहानियों में स्त्री–अस्मिता के प्रतिरोधी स्वर	प्रमोद कुमार यादव	13–15
5.	समाज और स्त्री विमर्श	डॉ. सुनीता शर्मा	16–20
6.	राजस्थान में विद्यालयी छात्रों को भामाशाह डाटा हब के माध्यम से छात्रवृत्ति का वितरणः उपलब्धियॉ, समस्या और समाधान	शिवकरण निमल	21–23
7.	दलित आक्रोश और चेतना के स्वर ('बस्सः बहुत हो चुका' के संदर्भ में)	डा. अमरदीप दयोल	24–26
8.	दलित साहित्य में सामाजिक चेतना	सुभाष चन्द्र	27–29
9.	Digital India : A SWOT Analysis	Dr. Anita	30-34
10.	निराला काव्य में राष्ट्रीय चेतना	डॉ. लता पाटिल, नरेश कुमार सिहाग	35–38
11.	विस्थापन की त्रासदी : 'निर्वासन'	काजल	39–40
12.	शैलेश मटियानी की आंचलिक कहानियों में जीवन–मूल्यों का चित्रण	महावीर	41–43
13.	नई कहानी के प्रणेताः निर्मल वर्मा	डा.सरबजीत कौर राय	44–46
14.	रघुवीर सहाय के काव्य में समष्टि प्रेम	नीरज कुमार सिन्हा	47–55
15.	हिन्दी साहित्य में पर्यावरण चिंतन	सुनीता सिंह	56–59
16.	हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्श और हाशिये का समाज	अनीश कुमार	60–64
17.	समकालीन हिंदी ग़ज़ल में आम आदमी की पीड़ा	नूतन शर्मा	65–67
18.	आचार्य बलदेव राज 'शांत' की काव्य–भाषा	बीना खत्री	68–70
19.	हिंदी बाल पत्रिका की चुनौतियां एवं समाधान	डॉ.मौह.रहीश अली खा	71–73
20.	राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यासों में आर्थिक भ्रष्टाचार एवं शोषण	डॉ. दिव्या एस. नायर	74-75
21.	**शिशुपालवधे चित्रबन्धालङ्कारः**	**डा.अजय कुमारनन्दः**	76-80
22.	अभिमन्यु अनत के उपन्यासों में चित्रित राजनैतिक भ्रष्टाचार	डॉ. उमाराणी. आर.	81–83
23.	वैश्विक दौर में बदलता हिंदी	डॉ.बसवराज के.बारकेर	84–87
24.	पूर्वोत्तर भारत में हिंदी	युगल किशोर यादव	88–90
25.	नई सदी के चुनिंदा हिंदी उपन्यासों में बदलते सम्बन्ध	सुशील कुमार	91–92
26.	Carrer Choices For English Literature Students	Thadeu Gnana Garrison	93-94
27.	तमिलनाडु में हिंदी	निशा मुरलीधरन	95–97

Web. : www.grngo.org
Impact Factor : 2.587

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
July-September 2018 Page No. : 60-64

AN INTERNATIONAL MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्श और हाशिये का समाज

21 वीं सदी यदि विमर्शों की सदी कहें तो ज्यादा सार्थक सिद्ध होता है । हिन्दी साहित्य में लगभग सन 1990 के बाद से विविध विमर्शों का आगमन होता है । इन विमर्शों में दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, पसमान्दा विमर्श, स्त्री विमर्श, आदि प्रमुख विमर्श हैं । इधर कुछ वर्षों से किन्नर विमर्श, बाल विमर्श और वृद्ध विमर्श भी साहित्य के माध्यम से सामने आ रहा है । कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है । वास्तव में प्रेमचंद ने सबसे पहले साहित्य को समाज का दर्पण कह कर एक परिभाषा में बांधने का प्रयास किया । पाश्चात्य विचारक ज्यॉ पाल सार्त्र ने ठीक ही कहा था, "एक युग का साहित्य अपने युग को आत्मसात करने के अतिरिक्त और क्या है ।" प्रेमचंद की ये परिभाषा तत्कालीन समय में सफल भी रही, किन्तु कालांतर में अक्सर ये देखने को मिला है कि अब तक हिन्दी साहित्य के अंतर्गत समाज के सभी पक्षों के ऊपर दृष्टिपात नहीं किया गया है । मुख्य धारा की आलोचना भी एक विशेष पक्ष को ही लेकर ही आगे किया । धीरे–धीरे छूटा हुआ पक्ष हाशिये पर चला गया । इन्हीं कारणों से इन सभी विमर्शों का आगमन होता है । कालांतर में इन सभी छूटे हुए विविध पक्षों पर बातचीत और गंभीर लेखन आरंभ हुआ । आज इन सभी विषयों पर गंभीर चिंतन हो रहा है ।

किसी भी देश या समाज के उन वर्गों–समुदायों के सम्मिलित समाज को हाशिये का समाज कहा गया है, जो वर्चस्ववादी कुनबे की तुलना में सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और आर्थिक स्तर पर किन्हीं कारणों से पीछे रह गए हैं । इस परिभाषा को विस्तार से समझने से पहले 'हाशिये' शब्द पर थोड़ा विचार करना जरूरी है । उदाहरणस्वरूप किसी पृष्ठ में हस्तलेखन या टंकण करने से पूर्व शीर्ष पर और मुख्य रूप से बाईं ओर कुछ जगह छोड़ी जाती रही है और इस जगह को 'हाशिया' कहा जाता है । प्रश्न उठता है कि हाशिये का समाज, समग्र समाज के लिए कितना महत्त्वपूर्ण है और उसे शीर्ष का समाज कहना चाहिए या एक ओर छोड़े गए हाशिये का समाज ? वर्तमान भारतीय परिवेश में स्त्री, दलित, आदिवासी, किसान, मजदूर और अल्पसंख्यक (मुख्यतः मुस्लिम समाज) आदि सभी हाशिये पर हैं । आदिवासी चिंतक हरिराम मीणा ने हाशिये के समाज को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "किसी भी राष्ट्र, समाज के उन घटकों के मानव समुदाय के सम्मिलित समाज को हाशिए का समाज कहा गया है, जो समाज के अगुवा तबके की तुलना में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक स्तर पर किन्हीं कारणों से पीछे रह गया है ।"[1] मुख्य सवाल यह है कि ये समुदाय आखिर हाशिये पर क्यूँ है । वास्तव में जिसे हाशिए का समाज कहा जाता है, उसकी संख्या बहुतायत है और बहुसंख्यक आबादी वाला वही समाज मुख्यधारा का समाज है, जिसे शैक्षिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित कर हाशिए पर फेंक दिया गया है । यह स्थिति समाज और साहित्य दोनों जगह देखा जा सकता है । इस संदर्भ में प्रो. यादव बड़ी निर्भीकता के साथ साहित्य को सवालों के घेरे में खड़ा करते हैं । वे लिखते हैं कि "आज एक ओर जहां सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का अजपाजाप किया जा रहा है और दूसरी ओर आर्थिक उदारीकरण का स्तुतिगान करते हुए सर्वधर्म समभाव की संभावना तलाशी जा रही है तो ऐसे में बहुसंख्यक आबादी वाले हाशिए की समाज की राष्ट्रीयता क्या होगी? दलितों, आदिवासियों, स्त्रियों, किसानों, मजदूरों व अन्य बहिष्कृत जाति समुदायों की उपेक्षा कर क्या किसी राष्ट्रवाद की कल्पना की जा सकती है? जिसे हाशिए का समाज कहा जाता है, बहुसंख्यक आबादी वाला वही समाज मुख्यधारा का समाज है, जिसे शैक्षिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित कर हाशिए पर फेंक दिया गया है । यही समाज देश के उत्पादन और आर्थिक विकास का मूल आधार है । ये तमाम सवाल हैं, जिनसे टकराए बिना न किसी राष्ट्रवाद की पुनर्व्याख्या की जा सकती है, न भारतीय नवजागरण की कोई मुकम्मल तस्वीर बन सकती है । अस्मिताओं के आंदोलन इन तमाम प्रश्नों से जूझते दिखाई देते हैं । अतः खंडित विमर्श मानकर दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श और पसमांदा विमर्श

की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि ये आधे अधूरे नवजागरण को पूर्णता प्रदान करने वाले विमर्श हैं तथा दलित मुक्ति, स्त्री मुक्ति और आदिवासी मुक्ति के सवाल ही मानव मुक्ति के प्रवेश द्वार हैं ।"[2]

साहित्य के अंतर्गत आदिवासी साहित्य आज एक समृद्ध विमर्श को लेकर सामने आता है । आज का आदिवासी विमर्श अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श है । यह ऐसा विमर्श है जिससे इस समुदाय की परंपरा, रूढ़ियां, संस्कृति, अन्याय, अत्याचार, अपमान, शोषण सभी कुछ बयान हो रहा है । लोककला, संगीत, नृत्य, संस्कृति, भाषा, बोली, लिपि आदि विभिन्न धरातलों पर आदिवासी लेखन एक व्यापक विमर्श का हिस्सा बन रहा है । इतने व्यापक लेखन के बावजूद मुख्य धारा का लेखन उसे वह तवज्जो नहीं दे रहा है जो उसे मिलना चाहिए । इस संदर्भ में वंदना टेटे लिखती हैं, "हिन्दी साहित्य में आदिवासी समाज और उनका जीवन अब तक उपेक्षित है । हमारे हिन्दी साहित्यकारों का ध्यान भारतीय समाज के इस सबसे उत्पीड़ित समुदायों की ओर लगभग नहीं के बराबर है । राष्ट्रीय मुख्यधारा का समाज आदिवासियों के पारंपरिक ससाधनों का दोहन–शोषण करने के लिए सभी वैध–अवैध तौर तरीकों को आजादी के बाद से अपनाता आ रहा है, लेकिन राजनीति और समाज में उन्हें जगह देने को बिलकुल तैयार नहीं है । हिन्दी साहित्य में भी यही रवैया है ।"[3]

आदिवासी विमर्श में समाज और संस्कृति मुख्य रूप से उभरकर आया है । हिन्दी साहित्य के अंतर्गत ज़्यादातर उपन्यास आदिवासियों के ऊपर लिखे जा रहे हैं । इन उपन्यासकारों ने विभिन्न दृष्टियों से उनकी संस्कृति और समाज को दिखाने का प्रयास किया । इनमें ज़्यादातर गैरआदिवासी साहित्यकार ही शामिल हैं । आदिवासी साहित्यकार मूलतः अपनी भाषा में ज्यादा लिख रहे हैं । भाषाई अनुवाद के कारण उनकी मूल संवेदना सामने नहीं पा रही हैं । इन सभी पक्षों को ध्यान में रखे तो कुछ समस्याएँ और चुनौतियाँ भी आदिवासी साहित्य की ओर दिखाई देती हैं । इन्हीं चुनौतियों की ओर ध्यान खींचते हुए वंदना टेटे लिखती हैं, "आदिवासी साहित्य के उत्तरोत्तर विकास की राह में कई–कई चुनौतियाँ भी हैं, जिनसे रचनाशीलता के पहले चरण में ही लेखकों को जूझना पड़ रहा है । भाषा के मानकीकरण का सवाल, अनेकों लिपियों का इस्तेमाल (कुड़ुख की टोलोंगसिक, संथाली की ओलचिकि, कुरमाली की झाड़ लिपि, मुंडारी लिपि, पंचपरगनिया लिपि, खोराठा की खरोष्ठी लिपि एवं खड़िया लिपि), महिला लेखन की चिंताजनक स्थिति और इन सबके बीच राजनीतिक दावेदारी एवं भागीदारी तथा नितांत नई सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था में अपनी सांस्कृतिक एकता व परंपरागत सामाजिक स्वशासी संगठन को बचाए रखने की चुनौती है । विकास की आधुनिक व्यवस्था और ग्लोबलाइज़ेशन से उत्पन्न नए खतरे अपनी जगह पर तो हैं ही ।"[4]

ज्योतिबा फूले ने लिखा है –

"गोड, भील क्षेत्री में पूर्व स्थायी, पीछे आये वही ईरानी,
शूर भील, मछुआरे मारे गये रारों से
ये गये हकाते जंगल गिरिवानों में ।"[5]

आज जब हम साहित्य इतिहास के पन्ने पलटते हैं तो पता चलता है कि समाज में जो परिवर्तन हो रहा है । उसे साहित्य ने निरूपित किया हैं । समय के अनुसार समाज में हो रहे परिवर्तन न समाज की हर हल–चल को साहित्य ने सृजित किया है । साहित्य न केवल समाज का दर्पण है बल्कि समाज को दिशा देने वाला प्रकाशपुंज भी हैं । अतः आज भी इस लोकतांन्त्रिक देश में स्त्री, दलित और आदिवासियों को उचित स्थान मिलना बाकी है । आजादी के इतने वर्षो के बाद भी समाज का आधा हिस्सा स्त्री, दलित और आदिवासियों को मनुष्यता के दर्जे से दूर रखा गया । आज भी आदिवासियों को लंबे समय तक मनुष्य के नाम पर राक्षस, जंगली और असभ्य कहा जाता रहा है परन्तु इन सब के बावजूद आदिवासी साहित्य की आहट सुनाई पड़ रही है ।

आज जब हम आदिवासी साहित्य के इतिहास की खोज करते है तो पाते है कि आदिवासी साहित्य वन संस्कृ ति अथवा प्रकृति से संबन्धित साहित्य है । यह साहित्य आदिवासियों की संस्कृति उनका खान–पान, रीतिरिवाज, रूढ़ि–परम्परा, विवाह, देवी–देवताओं, आदि का उल्लेख कराता है । जिस समाज की ओर आज तक किसी भी नजर नहीं गयी, जिन्हें शहर से ही नहीं जंगल से भी खदेड़ा जा रहा है । ऐसे आदिवासियों की समस्याओं को, उनके प्रश्नों को, उनकी व्यथा को साहित्यकारों ने अपनी लेखनी के माध्यम से व्यक्त करने का प्रभाव किया है ।

आदिवासी समाज सहज भाव से प्राकृतिक–जीवन–पद्धति में जीता हुआ जंगलों में रहता रहा है । वह अपने आपको जितना सहज जंगलों और प्रकृति के साथ खुलेपन में महसूस करता है उतना शहर या नगरीय चकाचौंध में नहीं । आदिवासी समाज परिवर्तनशील समय के साथ साथ एक संक्रमणकालीन दौर से भी गुजर रहा है । अतः उसके जीवन के यथार्थ को पकड़ में लाने के लिए लेखन और चिंतन में स्थायित्व लाना होगा । प्रत्येक समाज का एक धर्म और दर्शन होता है । इसके बिना किसी समाज का सही प्रदर्शन नहीं हो सकता है । "धर्म और समाज का अटूट संबंध है । समाज का स्वरूप धर्म ही निर्धारित करता है । अतः किसी भी धर्म के बारे जानने के लिए कि वह कैसा समाज बनाना चाहता है, समाज को क्या शिक्षा देना चाहता है, मानव जाति का किस प्रकार कल्याण करना चाहता है, उस धर्म का दर्शन जानना आवश्यक है । उस धर्म के दर्शन का मूल्यांकन करना आवश्यक है ।"[6] इन पक्षों को लेकर साहित्य में बहुत कुछ लिखा जा चुका है और लिखा भी जा रहा है । आज स्थिति यह है कि आदिवासी समुदाय अपने पूर्वजों के धर्म से भटककर तथाकथित अन्य धर्मों को अपनाने लगे हैं । ईसाई, हिन्दुत्ववादी शक्तियाँ या तो जबरन धर्म परिवर्तन करवा रही हैं या तो शिक्षा व समझ के अभाव में खुद उनके चंगुल में फंस रहे हैं । आदिवासी समाज में धर्म का आधार आदिकालीन धर्म है । ये जातिवाद में विश्वास नहीं करते हैं । यहाँ इसका वर्णन इसलिए आवश्यक हो जाता है कि ये सभी यथार्थ आदिवासी साहित्य के माध्यम से मुख्य पटल पर आ रहा है ।

मनुष्य चाहे जितनी भी ऊँचाइयाँ क्यों न छू ले किन्तु उसे अपनी संस्कृति, परम्पराएँ नहीं भूलनी चाहिए । इन सभी के बदौलत आज के ग्लोबल युग में बाल मन के ऊपर इसका अलग ही प्रभाव दिखाई दे रहा है । वंदना टेटे इन सभी सामाजिक चुनौतियों को कविता के माध्यम से व्यक्त करती हैं । वंदना टेटे जी इस चिंता को और गंभीरता से व्यक्त करती हैं –

"सच में
मैं चिंतित और उदास हूँ
कि नहीं जान पाएंगे मेरे बच्चे
डोरी, कुसुम से तेल निकालने की
मछली और चिड़िया पकड़ने की
देसज तकनीक ।
महुआ लट्ठा, इमली के बीज के साथ
औटाया गया खाने का स्वाद ।"[7]

वर्षों से हो रहे आदिवासियों पर अत्याचार की सच्ची दास्तान हिन्दी साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास आदि विधाओं में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं । आदिवासी समाज के अस्मिता और संस्कृति पर प्रहार करना संभ्रांत वर्ग के लोगों का एकाधिकार बन गया है । पूँजीपतियों का आक्रामक चेहरा और सरकारी योजनाओं के नाम पर सरकार का वीभत्स चेहरा दिखाई देता है । आदिवासी समुदाय वर्षों से अस्मिता की लड़ाई लड़ते आ रहे हैं । 'काला पादरी' उपन्यास में जेम्स खाखा कहता है "आखिर एक–दो पीढ़ी पहले तो हमें अपने अस्तित्व का पता नहीं था ठीक से, और अब पता चल गया है तो कहते हैं कि भूल जाओ, तुम्हारा कुछ नहीं है, जो कुछ है प्रभु परमेश्वर का है और परमेश्वर का रास्ता मिशनरीज़ से होकर जाता है, माई फुट, मैं कहता हूँ, परमेश्वर का रास्ता हमारी हमारी छोटी–सी नदी ईब से होकर गुजरता है, हमारे पेड़ों और पहाड़ों से होकर जाता है, और तो और सोजेलिन मिंज की आँखों से होकर जाता है ।"8

हक और अधिकार की मांग ने आदिवासी समुदाय को एक नई चुनौती प्रदान की । जिस हक और अधिकार के वे सब हकदार हैं वे सभी उन्हें लड़कर लेना पड़ रहा है । सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनकी समस्याएँ खुद उनसे न सुनकर दिकू समाज खुद ही कह रहा है । उन्हें इतिहास और साहित्य में मुख्य धारा के सामने आने का मौका दिये बगैर उनकी सभ्यता और संस्कृति पर बेलगाम लिखा व चिंतन किया जा रहा है । गैरआदिवासी लेखक ज्यादा इनके ऊपर लेखन और चिंतन कर रहे हैं । आदिवासी कविताओं में प्रतिरोध की भावना है जो दिकू समाज की दकियानूसी मानसिकता वाले लोगों के खिलाफ एकजुट होकर संघर्ष करने की महती प्रेरणा देती है साथ ही मुक्ति की कामना करती है । इस संदर्भ में डॉ. वारुण सोनवणे जी कविता 'स्टेज' प्रासंगिक है :–

हम स्टेज पर गए ही नहीं/और हमें बुलाया भी नहीं
उंगली के इशारे से हमारी जगह/हमें दिखाई गयी
हम वहीं बैठे/हमें शाबासी मिली
और 'वे' स्टेज पर खड़े हो/हमारा दुख
अपना ही रहा/कभी उनका हुआ ही नहीं
हमारी 'शंकाएँ'/हम बड़बड़ाए
कान देकर वे सुनते रहे/और निःश्वास छोड़ा
और हमारे कान पकड़कर/हमें ही धमकाया
माफी मांगों नहीं तो ।"9

हाशिये के समाज की परिकल्पना उस समाज के शैक्षिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विकास के आधार पर किया जा सकता है । आज आदिवासियों में वास्तविकता यह है कि यह समुदाय शैक्षिक और सामाजिक अथवा आर्थिक सभी पहलुओं से पिछड़ा हुआ है । देश के चाहे किसी भी प्रकार का आंदोलन रहा हो सभी जगह आदिवासियों की भागीदारी हुई है । इसके बावजूद इन्हें साहित्यकारों अथवा इतिहासकारों द्वारा हाशिये पर डाल दिया गया ।

भारतीय समाज की सबसे निचली सीढ़ी पर खड़ी दलित–आदिवासी स्त्री ने समाज की वर्जनाओं निषेधाज्ञाओं को लांघते हुऐ ब्राह्मणवादी व्यवस्था के मुख्य आधार स्तम्भ; पितृसत्ता, धर्म और जातीयता को हमेशा कड़ी टक्कर दी है । चाहें वह चिन्तन का क्षेत्र हो अथवा संघर्ष का, दोनो स्तरों पर उसने अपने अस्तित्व व अस्मिता की लड़ाई को प्राचीन काल से लेकर आज तक जारी रखा है । आज अगर सबसे बड़ा खतरा आदिवासी समुदाय को है तो वह है उसकी पहचान मिटाने का । इक्कीसवीं सदी में उसकी पहचान मिटाने की साजिश करने का एक योजनाबद्ध तरीके से सोचा जा रहा है । 'आदिवासी' की पहचान को छीनकर उसे वनवासी घोषित किया जा रहा है ।

प्राचीन काल से लेकर आज तक मानव सभ्यता का विकास होता आया है । लेकिन आदिवासी समाज के विकास को लेकर सब मौन हैं । आखिर उनका विकास क्यों नहीं हुआ ? क्यों नहीं हो रहा है ? और आगे भी होगा या नहीं होगा, इस बात की भी चिंता है ! विकास के नाम पर आदिवासियों को अधिक श्रम करने पर मजबूर किया गया । जो आदिवासी अपने अस्तित्व के बलबूते पर मेहनत करते थे, उन्हें दूसरों पर आश्रित होने पर मजबूर किया गया ।

आज भी आदिवासी समाज अलग–थलग पड़ा ऐसा आदिम समाज है जो अपनी परम्परागत मान्यताओं, रीति–रिवाजों को जीवित रखे है । आज इन्हें जल, जंगल और जमीन से खदेड़ा जा रहा है । जब ये आन्दोलन करते हैं तो सरकारी तंत्र इन पर गोलियां बरसाती है । इन्हें अपराधी (क्रिमिनल अथवा नक्सली) करार दिया जाता है । आज खोखली राजनीति और स्वार्थसिद्वि के चलते सरकार आदिवासियों के हितों के लिए न तो खास रूचि लेती है और न ही संसद और विधानसभाओं में उनकी वकालत करती है । अतः आज भी इनकी सामाजिक आर्थिक संरचनाओं में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ है । आज भी यह समाज उतना ही पिछड़ा और तिरस्कृत है, जितना इतिहास के प्रारम्भिक छोर पर था ।

आदिवासी साहित्य मूलतः सृजनात्मकता का साहित्य है जो मानता है कि दृष्यमान जगत में प्रत्येक वस्तु की अपनी एक स्वतंत्र सत्ता है और वह सुंदर है । आदिवासी साहित्य जहाँ प्रकृति और प्रेम के विविध रूपों के साथ रचाव और बचाव का साहित्य है वहीं समकालीन आदिवासी कविता लेखन में अस्मिता की खोज दिकुओं द्वारा किये गये और किये जा रहे शोषण के विविध रूपों को भी पहचानने लगा है । समकालीन आदिवासी कविता में प्रतिरोध है प्रतिशोध नहीं है । यह उसकी प्रमुख विशेषता है जिसे हमें न सिर्फ समझना चाहिए अपितु उसका सम्मान भी करना चाहिए । यह मनुष्यता की प्रगति का सम्प्रत्यय है ।

संदर्भ ग्रंथ :

1. कृष्ण, प्रो. वी. कृष्ण सिंह, डॉ. भीम, आदिवासी विमर्श, पृष्ठ संख्या 14
2. यादव, चौथीराम, उत्तरशती के विमर्श और हाशिये का समाज. नई दिल्ली, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स

(प्रा) लिमिटेड, 2014, पृष्ठ संख्या १३
3. टेटे, वंदना, आदिवासी साहित्य : परम्परा और प्रयोजन, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची (झारखंड), 2013, पृष्ठ संख्या 49
4. वही, पृष्ठ संख्या 48
5. डॉ. भरत धोंडीराम सगरे, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में आदिवासी जनजीवन, दिव्य डिस्ट्रीब्यूटर्स कानपुर, प्रथम संस्करण 2014, पृष्ठ संख्या 30–31
6. कठेरिया, कमल किशोर, भारतीय संस्कृति का पुनर्लेखन : अस्मिताओं का संघर्ष, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ संख्या 59
7. टेटे, वंदना, कोनजोगा, प्यारा केरकेटटा फाउंडेशन, झारखंड, 2015, पृष्ठ संख्या 12
8. तेजिंदर सिंह, काला पादरी, नेशनल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ संख्या 44–45
9. रमणिका गुप्ता, (सं.) आदिवासी कौन, उद्धृत, महादेव टोप्पो, आदिवासी हिन्दू नहीं हैं, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ संख्या 23

–अनीश कुमार
पी–एच.डी. शोध छात्र, हिन्दी विभाग
सांची बौद्ध भारतीय– ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय
बारला, रायसेन, मध्य प्रदेश